स्वप्रयत्न का महत्त्व

स्वामी कृपानन्द द्वारा लिखित

मैं एक ऐसे परिवार से हूँ जिसमें स्वानुशासन और सहज-स्फुरण, दोनों को महत्त्व दिया जाता, अतः जब मैं पहले-पहल सिद्धयोग पथ पर आई तो मुझे बिल्कुल घर जैसा, सहजताभरा वातावरण महसूस हुआ। बाबा मुक्तानन्द से शक्तिपात दीक्षा प्राप्त होने के बाद, मैंने उनसे जो सीखा, वह उसीका स्वाभाविक विकास था जिसे सीखते हुए मैं पली-बढ़ी थी। जैसे-जैसे मैं सिद्धयोग साधना करती गई, बाबा जी ने मुझे भारत के शास्त्रों में से एक, योगवासिष्ठ पढ़ने के लिए कहा। मूल संस्कृत भाषा के इस ग्रन्थ का भाषान्तर बड़ी-बड़ी सात पुस्तकों में समाहित है।

योगवासिष्ठ में जिन मुख्य विषयों का वर्णन है, उनमें से एक है, साधना में स्वप्रयत्न या सही कर्म का महत्त्व। इस ग्रन्थ में महर्षि वसिष्ठ, सुस्पष्ट छवियों का प्रयोग करके अपने शिष्य, युवा भगवान राम को वर्तमान क्षण में उचित कर्म करने के मूल्य का उपदेश देते हैं। इन छवियों में से एक जो मेरे मन में बस गई है, वह है एक-दूसरे से लड़ते हुए दो मेढ़े। स्वाभाविक ही है, उन दोनों में से जो मेढ़ा बलशाली होगा वह दुर्बल को परास्त कर देगा। महर्षि वसिष्ठ समझाते हैं कि यह हमारे द्वारा किए गए स्वप्रयत्न और प्रतीत होने वाली हमारी नियति अर्थात् हमारे पिछले कर्मों के संस्कारों के बीच के द्वन्द जैसा ही है। कौन विजयी होगा? यह पूर्णतया हम पर निर्भर है। हम अपनी ऊर्जा कहाँ लगाने वाले हैं? यदि हम इस विचार के साथ कर्महीन होकर बैठे रहेंगे कि हम तो अतीत की परिस्थितियों के शिकार हैं, तो हम वास्तव में उस मेढ़े की मदद कर रहे हैं जो हमारी अवांछित प्रवृत्तियों को दर्शाता है, और फिर वही जीतेगा। परन्तु, यदि हम साधना के प्रति वचनबद्ध होने का निर्णय लेते हैं और वर्तमान क्षण में सही यानी उचित स्वप्रयत्न करते हैं तो हम उस मेढ़े को समर्थन दे रहे होते हैं जो सर्वाधिक कल्याणकारी एवं उत्थानकारी शक्ति को दर्शाता है, और फिर वही जीतेगा।

शिवसूत्र के एक सूत्र में सही स्वप्रयत्न का वर्णन किया गया है : "प्रयत्नः साधकः"—'साधक वह है जो प्रयत्न करता है।'[१] यहाँ 'प्रयत्न' का अर्थ है, निरन्तरता व दृढ़ता के साथ दीर्घकाल तक किए गए वे कर्म जो हमें अपनी दिव्य आत्मा के ज्ञान तक ले जाते हैं। जब हम इस तरह का प्रयत्न करेंगे तो हम सीमितताओं से मुक्त होकर सत्य की अनुभूति करेंगे।

न्यू मेक्सिको के ऐल्बकर्की शहर में पली-बढ़ी होने से मैं कई मूल अमरीकी संस्कृतियों से परिचित हुई हूँ। एक बार मैंने यह कहानी सुनी जो चेरोकी परम्परा की एक प्राचीन दृष्टान्त-कथा है।

एक शाम, एक वृद्ध चेरोकी योद्धा ने अपने पोते को एक ऐसे संघर्ष के बारे में बताया जो हर एक व्यक्ति के अन्तर में चलता रहता है। वृद्ध ने कहा, "बेटा, यह संघर्ष दो भेड़ियों के बीच होता है

जो हम सबके अन्दर रहते हैं। एक है, नकारात्मक वृत्तियाँ जैसे, क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ, घमण्ड, खुद पर तरस खाना, अपराधबोध, आक्रोश, असत्य भाषण, मिथ्याभिमान और अहंकार। दूसरा है, सकारात्मक वृत्तियाँ जैसे, आनन्द, शान्ति, प्रेम, आशा, प्रशान्ति, विनम्रता, दयालुता, परोपकारिता, सहानुभूति, उदारता, सत्य, करुणा और श्रद्धा।"

पोते ने मिनट भर इस बात पर विचार किया और फिर अपने दादा जी से पूछा, "कौन-सा भेड़िया जीतेगा?"

वृद्ध ने सहज ही उत्तर दिया, "जिसे तुम पोषित करोगे।"

हमारे अन्तर में लड़ रहे दो भेड़ियों की छवि—योगवासिष्ठ में वर्णित दो मेढ़ों की ही तरह—हमारे अन्तर के संघर्षभाव को दर्शाने के लिए एक रूपक के समान है। नकारात्मक वृत्तियों वाला भेड़िया, सकारात्मक वृत्तियों के भेड़िए के साथ उसकी मृत्यु होने तक लड़ रहा है। यह संघर्ष हममें से हर एक के अन्तर में तीव्रता से चलता रहता है। ये दो दृष्टान्त-कथाएँ शक्तिपूरित रीति से हमें उस संघर्ष का स्मरण कराती हैं जिसका सामना हर मनुष्य को करना ही पड़ता है। हमारा संघर्ष चाहे क्रोध व शान्ति के बीच हो या आक्रोश व क्षमा के बीच हो, महत्त्व इस बात का है कि हमें सतर्कतापूर्वक उन मूल्यों को पोषित करना है जो हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण हों।

उदाहरण के लिए, जब हम सिद्धयोग के अभ्यास करते हैं, तब हम सही स्वप्रयत्न को पोषित कर रहे होते हैं। सिद्धयोग के अभ्यास दिव्य शक्ति की सामर्थ्य से ओतप्रोत हैं। एक बार श्रीगुरु की कृपा से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाने पर, जब हम ध्यान करने हेतु बैठते हैं तब यह शक्ति हमारे बोध को हमारी सत्ता के अन्दर गहरे से गहरे, सूक्ष्म स्तरों तक ले जाती है। यहीं पर हम अपनी अन्तर्निहित दिव्य शक्ति की अद्भुत उपस्थिति और उसके प्रवाह का अनुभव करते हैं। यहीं पर हम उस परम प्रेम व शान्ति व प्रज्ञान को जान पाते हैं जिसकी खोज हम सदा से करते आ रहे हैं। यही वह आत्मा है जिसके प्रति जागरूक रहने का हम सदैव प्रयास करते हैं। हम चाहते हैं कि इस अवस्था की मनोहरता हमारे सभी कृत्यों में प्रतिबिम्बित हो। और सिद्धयोग साधना का उद्देश्य है, ठीक यही कर पाने में हमें समर्थ बनाना।

मैं इस तथ्य पर ज़ोर देना चाहती हूँ कि साधना में स्वप्रयत्न करना कठिन नहीं है; बल्कि यह हमारा सहज स्वभाव है, और यह महान फल देने वाला है। वास्तव में, गुरुमाई चिद्विलासानन्द ने सिद्धयोगियों को अकसर प्रोत्साहित किया है कि वे एक अभ्यास को चुनें व एक नियत अवधि के लिए स्वयं को उसमें निमग्न करें जिससे कि वे उसके 'रस' का पूर्ण रूप से अनुभव कर सकें। मुझे सिद्धयोग के *सभी* अभ्यास बहुत अच्छे लगते हैं और अपने जीवन के विभिन्न अवसरों पर मैंने विभिन्न अभ्यासों पर केन्द्रण किया है। फिर भी, ध्यान का अभ्यास हमेशा से ही मेरा प्रिय अभ्यास

रहा है और पिछले पचास वर्षों से मैं ध्यान के अपने दैनिक अभ्यास को दृढ़ता के साथ करती आ रही हूँ। उदाहरण के लिए, मैंने हमेशा ही यह प्रयत्न किया है कि मैं रात को जल्दी सो जाऊँ जिससे मैं सवेरे जल्दी उठ सकूँ और ब्राह्ममुहूर्त में ध्यान कर सकूँ—जो कि परब्रह्म को समर्पित सुबह तीन बजे से छः बजे तक का समय होता है। इस समय प्रकृति शान्त, मौन होती है। इस प्रशान्त वातावरण में, मैं पाती हूँ कि ध्यान में उतरना और अपने अन्तर के गहन मौन व प्रशान्ति का अनुभव करना बहुत सहज होता है।

अपनी साधना के आरम्भ काल में, स्वप्रयत्न के बारे में जो पाठ मैंने सीखे हैं, उनमें से एक यह है कि लचीलापन बनाए रखना आवश्यक है। विशेषकर, जब मैं सिद्धयोग टीचिंग्स् विज़िट्स् [शिक्षण-यात्राएँ] कर रही थी तब ध्यान का मेरा समय मेरी दिनचर्या के अनुसार बदलता रहता था। किन्तु, जो कुछ भी हो रहा हो, मैं ध्यान के लिए समय निकालने का प्रयत्न करती क्योंकि यह अभ्यास मेरे लिए बहुमूल्य है, यह मुझे अत्यन्त प्रिय है और मैंने पाया कि अपने अन्दर दृढ़ व स्थिर बने रहने में यह अभ्यास मेरी सहायता करता है। मैंने देखा कि ध्यान करने के बाद मैं जो सेवा करती और ध्यान किए बिना मैं जो सेवा करती, उसमें बहुत अन्तर होता। जब मैंने ध्यान के प्रभावों को अपने दैनिक क्रियाकलाप में लागू किया तो मैंने पाया कि दूसरों के साथ मेरा व्यवहार और अधिक सामंजस्यपूर्ण व सहज है। अपने ही दृष्टिकोण पर अड़े रहना और उससे बढ़ती खीज न जाने कैसे मिटने लगी थी।

“साधक वह है जो प्रयत्न करता है।” क्या आपको यह सूत्र अच्छा नहीं लगता?

©२०२२ एस. वाय. डी. ए. फ़ाउन्डेशन®। सर्वाधिकार सुरक्षित।

[१] शिवसूत्र २.२; जयदेव सिंह, *Shiva Sutras: The Yoga of Supreme Identity* [दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, १९७९], पृष्ठ ८६।